Shodh Drishti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal) Impact Factor : 7.0
Vol. 16, No. 1, January 2025 ISSN : 0976-6650

नृत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला में अंतर्सम्बन्ध का शास्त्रीय आधार : एक अध्ययन

डॉ0 यास्मीन सिंह
कथक नृत्यांगना, भोपाल (मध्य प्रदेश)

सारांश

वर्तमान में अनेक कलाएँ प्रचार में हैं, जिनमें विशेषतः नृत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, गायन, वादन और नाट्यकला को प्रमुख स्थान प्राप्त है। अध्ययन के दौरान जब इन सभी कलाओं के इतिहास की ओर उन्मुख हों, तो शास्त्र परम्परानुसार सभी कलाओं का मूल स्रोत एक ही जान पड़ता है। वैदिक एवं पौराणिक ग्रंथों के साथ–साथ नाट्य, काव्य, संगीतादि ग्रंथ परम्परा में ग्रंथकारों ने कलाओं का यथास्थान प्रयोग करने का निर्देश देने के साथ–साथ किस प्रकार इन कलाओं के परस्पर सम्बन्धों का भी उल्लेख किया गया है, की पड़ताल इस शोध–आलेख के माध्यम से किया जा रहा है।

मुख्य शब्द : नृत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्य, शास्त्र, परम्परा, सौन्दर्य, भाव, मुद्रा।

प्राचीन समय से वर्तमान समय तक कला का अस्तित्व निरन्तर गतिमान है। वस्तुतः कला के जीवन्त प्रमाणों ने ही प्राचीन संस्कृति के स्वरूप को प्रदर्शित किया। संभवतः इसीलिए कला का स्थान सर्वोपरि है। जीवन का कोई भी पहलू इससे अछूता नहीं है। कला, प्राचीन सभ्यताओं में छाया देने वाला एक ऐसा वृक्ष है, जिसमें न जाने कितनी शाखायें पुष्पित व पल्लवित हुईं।

प्राचीन मन्दिरों में अंकित शिल्प भी समकालीन संस्कृति, सभ्यता एवं कला के जीवन्त प्रतिनिधि हैं। ये स्थिरता लिये हुए भी स्थिर नहीं होते हैं। इनकी मुख–मुद्रायें, भाव–भंगिमायें सम्पूर्ण वृत्तांत का विवरण करती प्रतीत होती हैं। विद्वानों के अनुसार, मनुष्य ने शिल्पकला (मूर्तिकला एवं चित्रकला) संभवतः दो उद्देश्यों से अपनाईं– अतीत संरक्षण तथा अव्यक्ताभिव्यक्ति। अर्थात् अतीत को जीवित बनाये रखना तथा अमूर्त को मूर्त रूप देना। वास्तव में शिल्प शब्द का प्रथम प्रयोग ब्राह्मण ग्रंथों में ही हुआ। जैसे– ऐतरेय ब्राह्मण (26.5. 27) में यह वर्णन मिलता है– शिल्प का प्रयोग कला (Art) और हस्त शिल्प (Craft) दोनों के ही अर्थ में किया गया। अर्थात् कौशल पूर्वक सुरुचिपूर्ण ढंग से नित्यप्रति के व्यवहार की वस्तुओं को शिल्प की संज्ञा दी गयी, जिसका निःसंदेह ही बहुत व्यापक अर्थ था। उत्तर वैदिक और ब्राह्मण काल में मूर्तियाँ बनने लगी थीं और शिल्प की परिभाषा में मूर्तियों को भी सम्मिलित कर लिया गया था। आगे चलकर इस परिभाषा का और विस्तार हुआ। कौशीतकी ब्राह्मण के उल्लेख से पता चलता है कि शिल्प की परिभाषा में नृत्य, गीत और संगीत को भी सम्मिलित कर लिया गया था। ब्राह्मण काल में शिल्प को सभी ललित कलाओं के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा था। वस्तुतः मूर्तिकला सभी कलाओं को अपने आप में समाविष्ट कर उनकी अभिव्यक्ति के साधन के रूप में भी प्रतिष्ठित है। 'यह संगीत की गति, साहित्य का अर्थालोक तथा चित्र की चित्ताकर्षकता उत्पन्न कर सकती है।' (शर्मा 126)

मनुष्य को आनन्द की अनुभूति कराने वाले कारकों में नृत्य भी सम्मिलित है, नृत्य मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाले हर्ष तथा उल्लास का पर्याय है। मन में स्थित विभिन्न भाव, यथा– क्रोध, मोह, लोभ, भय आदि में आत्मसुख प्रदान करने वाला भाव आनन्द है। उसी आनन्द की अभिव्यक्ति हेतु मनुष्य ने नृत्य को आधार बनाया। नृत्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है, कि यह शब्द प्राचीन काल से ही अस्तित्व में है तथा प्रत्येक काल में नृत्य ने अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। प्राचीन काल में इसका कोई विशिष्ट रूप नहीं था, परन्तु अंगों के माध्यम से मनोभावों को व्यक्त करने का सामर्थ्य इसमें अवश्य था, जिसने चाहे नृत्य को जिस रूप में अपना लिया, लोक में प्रचलित नृत्य उस क्षेत्र विशेष की पहचान कहलाने लगी तथा लोकनृत्य के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इन्हीं लोक नृत्यों में से कुछ शास्त्रीयता की चादर ओढ़ी और शास्त्रीय नृत्य कहलाने लगे। परन्तु दोनों का ही मूल लक्ष्य आनन्द रहा। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है, कि लोकनृत्य आनन्दाभिव्यक्ति के माध्यम रहे हैं तथा शास्त्रीय नृत्य आनन्द प्राप्ति के साधन। नृत्य कला का प्राचीन स्वरूप, नृत्य में प्रयुक्त शास्त्रीय मुद्रायें, नृत्य संगति हेतु प्रयुक्त होने वाले प्राचीन वाद्य तथा नृत्य की तत्कालीन स्थिति आदि का यथोचित चित्रण वर्तमान में शिल्पों के माध्यम से ही प्राप्त हो सका है।

नृत्यकला और मूर्तिकला के अंतर्सम्बन्ध की धारा अनेक कालों से प्रवाहित होती आ रही है। वर्तमान समय में परिलक्षित इन कलाओं के सुरम्य मेल के प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। आचार्य वात्स्यायन के

'कामसूत्र' के टीकाकार यशोधर पंडित ने चित्रकला के छः अंग बताये है, जिन्हें 'षडंग' कहा जाता है। पंडित यशोधर ने अपनी टीका में इन्हें एक श्लोक द्वारा व्यक्त किया है–

"रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रषडंगकम्।।" (शुक्ल 43)

पंडित यशोधर ने उक्त श्लोक का वर्णन अपने ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका में किया है। यहाँ जो चित्र के तत्व हैं, वही मूर्ति के भी हैं अर्थात् यहाँ चित्रकला का तात्पर्य मूर्तिकला से भी है। इसी प्रकार राजा भोजकृत 'समरांगणसूत्राधार' के अनुसार– हस्तमुद्राओं से अर्थ का सूचन किया जाता है और दृष्टियों से उनका प्रतिपादन। इस प्रकार अभिनय के समान चित्र में भी विषय का सजीव प्रदर्शन होता है। अतएव नाट्य के जो साधन और अंग हैं, वे ही चित्र के भी–

'हस्तेन सूचयन्नार्थ दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्यते सर्वाभिनयदर्शनात्।।
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते।
भवेदत्रायतं तस्मादनयोश्चितत्रमाश्रितम्।।' (नगेन्द्र 76)

इस प्रकार समरांगणसूत्राधार में हस्त मुद्राओं एवं दृष्टियों द्वारा अर्थ के प्रतिपादन की बात कही गई है।

इसके अतिरिक्त, 'श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण' में चित्रकला को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला निरूपित किया गया है, तत्पश्चात् आचार्य द्वारा निर्देश दिया गया है, कि–

'विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्।
नृत्यशास्त्रविधानं च चित्रं वेत्ति यतो द्विज।।
आतोद्यं यो न जानाति तस्य वृत्तं हि दुर्विदम्।
न गीतेन विना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमप्युत।
संस्कृत प्राकृतं च गीतं द्विविधमुच्यते।। (क्षेमराज 307–308)

नृत्य शास्त्र के ज्ञान के बिना चित्रसूत्र को नहीं समझा जा सकता, वादन के ज्ञान के अभाव में नृत्य को समझना असंभव है। गायन का ज्ञान के बिना वादन और साहित्य के ज्ञान के बिना गायन को नहीं समझा जा सकता, ऐसा आचार्य का मत है।

इस प्रकार उक्त आचार्यों द्वारा नृत्यादि सांगीतिक कलाओं के साथ चित्र एवं मूर्तिकलाओं को एक–दूसरे से सम्बद्ध बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि कला का चाहे जो भी पक्ष हो, वे परस्पर प्रभावित होते हैं, जिसकी पुष्टि प्राचीन ग्रंथों में दृष्टिगत होती है। वर्तमान, जो आधुनिकता से घिरा हुआ है, वहाँ शास्त्रीय नृत्य शैलियाँ संस्कृति एवं सभ्यता की परिचारियका तो है ही, साथ–ही–साथ आधुनिक मानव के हृदय में प्राचीनता का स्मरण करने का उच्चतम् साधन भी हैं। मूर्तिकला में जहाँ नृत्य–मूर्तियाँ नृत्य की किसी स्थिर मुद्रा का प्रतीक हैं, वहीं नृत्यकला में स्थिरता नृत्य–मूर्तियों का स्मरण कराती हैं।

कलाओं के संदर्भ में प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखे गये विभिन्न ग्रंथ भी विशेष उल्लेखनीय रहे हैं। कला के प्रत्येक पक्ष की विषद् व्याख्या इन प्राचीन ग्रंथों में सविस्तार प्राप्त होती है, इन्हें विवेच्य विषय के आधार पर तत्संबंधी विषय का 'शास्त्र' कहा जाता है, जैसे नाट्य से संबंधित ग्रंथों को नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों की श्रेणी में रखा गया है, तो काव्य–कला से संबंधित ग्रंथों को काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के क्रम में अवस्थित किया गया है। इसी प्रकार शिल्प–शास्त्र के अंतर्गत चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य एवं वास्तुकलाओं को भी शास्त्रों के अंतर्गत अवस्थित किया गया है।

नाट्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त शिल्प–शास्त्रीय ग्रंथों की रचना संस्कृत साहित्य के अंतर्गत प्राप्त होती है। शिल्प–शास्त्रीय ग्रंथों में चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला एवं वास्तुकला का विशद् वर्णन आचार्यों द्वारा किया गया है। 'पुराणों, अर्थशास्त्र और शिल्पशास्त्र विषयके ग्रंथों में विश्वकर्मा को बड़ी निष्ठा से स्मरण किया गया है। वे देवताओं के शिल्पी थे। शिल्पविषयक मानसार नामक ग्रंथ में विश्वकर्मा को ब्रह्मा का मानस पुत्रा कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने चार मुखों से जिन चार स्थपतियों को जन्म दिया, उनमें विश्वकर्मा का प्रथम स्थान था।' (अग्रवाल 47)

सातवीं शताब्दी में 'श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण' ग्रंथ की रचना की गई, जो मूलतः तीन खण्डों में विभाजित है। इस पुराण में कला और शिल्प का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 'चित्रसूत्र के विभिन्न अध्यायों में आयाममान, सामान्यमान, प्रतिमा लक्षण विधान, क्षयवृद्धि, वर्तनावर्णन, रूपनिर्माण विधान और शृँगारादि भावकथन का विस्तृत वर्णन मार्कण्डेय मुनि द्वारा किया गया है।' (द्विवेदी एवं दुबे 12)

ग्रंथ के तृतीय खण्ड में कुल 355 अध्याय हैं, जिनमें से अध्याय 17 से 34 में रूपक, गीत, वाद्य यंत्र, आसन, नृत्त के सामान्य लक्षण, अंग–उपांग, अभिनय, गति प्रचार, रस–भाव, सामान्य मुद्रायें एवं नृत्त शास्त्र का वर्णन किया गया है। अध्याय 35 से 46 तक चित्रसूत्रम् तथा 47 से 87 तक प्रतिमा लक्षण विधान के अंतर्गत विभिन्न देवी–देवताओं के मूर्ति–शिल्प निर्माण, उनके वस्त्राभूषण, आयुध, वाहन आदि के निर्माण से संबंधित निर्देशों का प्रतिपादन किया गया है। मार्कण्डेय मुनि ने राजा वज्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए चित्रकला, नृत्य, गीत, साहित्य, धर्म आदि के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए इन्हें परस्पर एक–दूसरे के लिए उपयोगी सिद्ध किया है।

इस प्रकार आचार्य के मतानुसार चित्रकला के सम्पूर्ण ज्ञान हेतु नृत्य–कला का ज्ञान आवश्यक है। विद्वानों का मत है, कि ग्रंथ को सरल भाषा तथा रसान्विति में लिखा गया है। इस ग्रंथ में छोटे–छोटे अनुष्टुप छंदों में चित्रगत् गंभीर भाव भरे हुए हैं, जिसमें चित्रों के शारीरिक लक्षण, रंग–अंकन विधान तथा तात्विक सिद्धान्तों का विभिन्न अध्यायों में वर्णन किया गया है। भारतीय चित्रकला के संदर्भ में चित्रकला के संबंध में जितना सुस्पष्ट और विस्तृत वर्णन चित्रसूत्रम् में मिलता है, उतना अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अतिरिक्त समरांगणसूत्राधार में भी शिल्प एवं वास्तु सम्बन्धी विषयों को विस्तार से अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। 11वीं शताब्दी में परमार राजा भोज द्वारा इस ग्रंथ की रचना की गई, जिसमें कुल 84 अध्याय हैं। इस ग्रंथ में स्थापत्य की प्रायः सभी कलाओं– भवनकला, नगरकला, प्रासादकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं यन्त्रकला का वर्णन है। ग्रंथ के 70वें अध्याय से 83वें अध्याय तक मूर्तिरचना विधि के प्रतिपादन के बीच–बीच में चित्ररचना विधि की भी व्याख्या है। 76वें अध्याय में मूर्तियों की विलक्षणताओं का और 70वें अध्याय में इस बात का विषद् रूप से वर्णन है कि देवों तथा अर्धदेवों की आकृतियों के विभिन्न अंगों की रचना किस प्रकार करनी चाहिए और उनकी रचना में कौन से रंगों का प्रयोग वांछनीय है। ग्रंथ के अन्त में हस्तमुद्राओं आदि का वर्णन किया गया है, परन्तु आधार नाट्यशास्त्र ही प्रतीत होता है। मूर्ति शिल्प, वास्तु और स्थापत्य आदि विषयों से संबंधित विषयों का विवेचना उपरोक्त वर्णित ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य शिल्प–ग्रंथों– 'मानसोल्लास' (12वीं शती), 'मानसार', अपराजित–पृच्छा, शिल्प रत्न (16वीं शती) आदि में भी प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्र में भी 'चित्र' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। भरत ने अभिनय का वह पक्ष जो अंगों के माध्यम से व्यक्त नहीं हो सकता। ऐसे विशेष अभिनय को भरत ने 'चित्राभिनय' के अंतर्गत अवस्थित किया है–

'अंगाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते चित्राः स चित्राभिनयस्स्मृतः।।1।।' (द्विवेदी 482)

अभिनवगुप्त के मतानुसार– जो अधिक विशेष है, वह चित्र अभिनय है, उसका सम्पादन उपचार से होता है तथा चित्राभिनय सर्वलोकसाधारण का प्रमाण है। इस प्रकार भरत ने निश्चित रूप से यहाँ 'चित्र' शब्द का प्रयोग अभिनय के सन्दर्भ में किया है। यह विशेष उल्लेखनीय है, कि प्रस्तुतिकरण में अभिनय के विशेष पक्ष को भरत 'चित्र' या 'चित्राभिनय' कहा है। अर्थात् शारीरिक अंगों द्वारा जिस अभिनय को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, उसे चित्राभिनय के माध्यम से स्पष्ट करने का निर्देश भरत द्वारा दिया गया है। आचार्य ने चित्र के माध्यम से विशेष अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है। अर्थात् चित्र के माध्यम से होने वाली अभिव्यक्ति सामान्य अभिनय की सीमा से अधिक परिष्कृत है। दूसरे शब्दों में, आचार्य ने उत्कृष्ट या विशेष अभिनय को चित्र के समकक्ष माना है। इसी आधार पर 'चित्र' शब्द का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए, तो 'चित्र' शब्द में से 'त्र' प्रत्यय के स्थान पर यदि 'त्त' प्रत्यय लगाने पर 'चित्त' में परिवर्तित हो जाता है, जिसका अर्थ है– 'मन'। 'चित्र' का प्रभाव 'मन' पर शीघ्रता से होता है, जो भावोत्पत्ति में सहायक है। संभवतः भरत ने भी इसी आधार पर अभिनय के सौन्दर्य पक्ष के चर्मोत्कर्ष को स्पष्ट करने के लिए 'चित्र' का आश्रय लिया है। जहाँ तक प्रश्न मन के प्रभावित होने का है, तो इस संबंध में आचार्य नन्दिकेश्वर ने नृत्य के सन्दर्भ में उद्धृत किया है, कि–

'यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः।।' (गैरोला, 246)

जिस दिशा में हस्त संचालन हो, उसी दिशा में दृष्टि हो, दृष्टि के अनुरूप मन एवं मन के अनुरूप भाव हों तथा भावों के आधार पर ही रस निष्पत्ति होने की बात आचार्य द्वारा कही गई है। इस प्रकार उक्त दोनों आचार्यों के मतानुरूप में हस्त मुद्रायें एवं दृष्टि, नृत्य तथा नाट्य के अभिन्न अंग के रूप में प्रतिपादित हैं।

वर्तमान समय में कलाओं का स्वरूप वृहद हो चुका है तथा सभी कलाओं का अपना एक स्थान व अस्तित्व है। समय व काल परिवर्तन के साथ भले ही कलाओं को पृथक्–पृथक् कर दिया गया हो, किन्तु इन सभी कलाओं की स्थापना और प्रयोग का मूल आधार एवं केन्द्रिय स्रोत एक ही तत्व है। यही कारण है कि नृत्यकला का मूर्तिकला और चित्रकला से न केवल स्पष्ट संबंध रहा है, अपितु ये कलाएँ एक–दूसरे से प्रभावित भी रही हैं। प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है। ग्रंथों में वर्णित कलाओं के इस अन्तर्सम्बन्ध को प्राचीन मूर्तियों के माध्यम से देखा व समझा जा सकता है।

उक्त अध्ययन के आधार पर मुख्य रूप से दो तरह की बातें स्पष्ट होती हैं, पहली बात यह है कि– प्राचीन भारत में धर्म के साथ संस्कृति और कला समान रूप से प्रवाहमान थे। दूसरी बात यह कि– धर्म, कला और संस्कृति में कहीं–न–कहीं शास्त्रीय बाध्यता भी थी। अर्थात् जहाँ धर्म वेद–पुराणादि ग्रन्थों पर आधारित था, वहीं कलायें भी अपनी प्रकृति के अनुरूप एवं विषय से सम्बन्धित शास्त्र पर आधारित रही। उल्लेखनीय तथ्य यह भी है, पुराणों में वर्णित देवी–देवताओं के चारित्रिक विशेषताओं के अनुरूप ही कला–शास्त्रों में उनके रूप–स्वरूप, अंग–भंगिमायें, हस्त मुद्रायें एवं आयुधादियों का निर्धारण किया गया तथा आंगिक मुद्रायें तथा शारीरिक भंगिमाओं को प्राचीन शिल्पियों में तत्कालीन मंदिरों की भित्तियों में उत्कीर्णित किया। उक्त तथ्य से यह बात भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है, कि पुराणादि धर्म ग्रंथ ही मूलतः कला–शास्त्रीय ग्रंथों के आधार रहे होंगे, जो इस तथ्य को भी प्रमाणित करने में सक्षम प्रतीत होते हैं, कि धर्म ही कला और संस्कृति का मुख्य केन्द्र रही और शास्त्रों के आधार पर सदैव गतिशील बनी रही। वर्तमान में भी नृत्य, चित्र, मूर्ति, नाट्यादि कलाएँ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक धरातल पर ही प्रस्तुत हो रही हैं। प्रस्तुतकर्त्ता या कलाकार अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति और सृजनशीलता से कलाओं को कितना ही आधुनिक करने का प्रयास भी करें, तब भी कलाओं का मूल आधार और उनके सिद्धांत शास्त्रीय प्रतिमानों से सम्बद्ध ही रहेंगे। यही भारतीय कलाओं का आधार है और यही इन कलाओं का वैशिष्ट्य भी है, जिसे किसी भी कला से सम्बद्ध कलाकार और दर्शक को स्वीकार करना ही होगा, यही सत्य है।

संदर्भ सूची :

1. शर्मा, डॉ.हरद्वारीलाल, सौन्दर्यशास्त्र, मानसी प्रकाशन मेरठ, 1999.
2. शुक्ल, डॉ.द्विजेन्द्रनाथ, समरांगणसूत्राधार वास्तुशास्त्रीय, राजनिवेश एवं राजसी कलाएँ, प्रथम–भाग, वास्तुवाङ्मय प्रकाशन शाला लखनऊ, 1967.
3. क्षेमराज, कृष्णदास, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालय मुंबई.
4. अग्रवाल, डॉ.मधूलिका, चित्रकला और संस्कृत साहित्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, 2002.
5. द्विवेदी, डॉ.प्रेम शंकर, डॉ.बिन्दु दुबे, चित्रसूत्रम् : विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चित्रकला, कला प्रकाशन वाराणसी, 1991.
6. द्विवेदी, डॉ. पारसनाथ, भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रम्, चतुर्थोऽभागः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 2004.
7. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2006.